

हिंदी कहानी में व्यक्त वृद्ध जीवन: वर्चस्वहीन पारिवारिक-सामाजिक सत्ता और निरर्थकता-बोध

रीनू गुप्ता, सहायक आचार्य, हिंदी विभाग
श्याम लाल कॉलेज(सांध्य) दिल्ली विश्वविद्यालय

हम अपने बुजुर्गों से वे बातें क्यों नहीं करते जो हमें कठिन और समस्याग्रस्त लगती हैं , इससे हम उनके द्वारा लिए जाने वाले व्यावहारिक हल से संभवतः कोसों दूर चले जाते हैं ? हम एक ओर सब छिपा लेने की अपनी कला पर इतराते हैं तो दूसरी ओर बड़े-बुजुर्गों के मन में संशय का बीज बो देते हैं , जिसे कालांतर में वह अपनी मौजूदगी की निरर्थकता से जोड़कर देखने लगते हैं।

सामाजिक गत्यात्मकता समाजिक और वैयक्तिक स्थिति बदलती रहती हैं , दो पीढ़ियों के अंतराल में इसे देखा जा सकता है पहले आदेश लेने वाले लोग अब आदेश देने वाले हो सकते हैं। टूटन और बिखराव के शिकार , जोड़तोड़ करने वाले स्वयं उसके कारक बन सकते हैं।

सयुक्त परिवार के विघटन के बाद भी बड़े-बुजुर्ग परिवार का निजी हिस्सा बने रहे हैं। परिवार द्वारा मिलने वाली उनकी सुरक्षा-सम्मान में मिथकीय कवच सर्वाधिक शक्तिशाली भूमिका निभाता है , इसके कारण व्यक्ति स्वातन्त्र्य और निजी इच्छा के ऊपर सामाजिक उत्तरदायित्व का निर्वाह किया जाता है।

बुजुर्गों के साधनों पर वर्चस्व के लिए उन्हें जोड़-तोड़ के लिए बहलाया जाता है और इस प्रक्रिया में उनको झूठे यथार्थ पर यकीन दिलाया जाता है और क्रमशः उनके अस्तित्व के निरंतर इनकार की जरूरत पर बल दिया जाता है।

निजी स्वामित्व की रक्षा और संवर्द्धन के लिए जिस समय , ऊर्जा, कौशल की जरूरत होगी वह अब उनके पास नहीं है, ऐसा विश्वास दिलाकर उन्हें वंचितों की श्रेणी में रखना और सार्वजनिक रूप से इसे उनकी निजी इच्छा के रूप में प्रकट करना - यह प्रवृत्ति आम धारणा के रूप में प्रचलित है।

परिवार के केंद्र बदले जाने की तीव्रता बुजुर्गों में रोजमर्रा की घटनाओं व बातचीत से उनके कमजोर अस्तित्व और तेजी से होते विघटन की ओर लगातार उनका ध्यान अग्रसर करती है। इस जोड़- तोड़ को पारिवारिक,सामाजिक उन्नति से जोड़कर उसे परिष्कृत और सहज बनाने का प्रयास किया जाता है।

हिन्दी कहानी की यात्रा में अनेक ऐसे दृश्य देखे जा सकते हैं। प्रेमचंद की बूढ़ी काकी का जीवन अंधेरी कोठरी में कैद उस विधवा का है, जो हर सुख से वंचित है। उसके भतीजे ने सब्ज़बाग दिखाकर जमीन- जयादाद तो अपने नाम कर ली पर अब रोटियों के भी लाले पड़े हैं। “उस सम्पत्ति की वार्षिक आय डेढ़ - दो सौ रुपये से कम न थी तथापि बूढ़ी काकी को पेट भर भोजन भी कठिनाई से मिलता था।” सवाल भोजन का तो है ही पूछ का भी है- “ अब मुझे कौन पूछता है! जब रोटियों के ही लाले पड़े हैं तब ऐसे भाग्य कहाँ कि भरपेट पूड़ियाँ मिलें?” बुजुर्गों के

साधनों व सम्पत्ति पर स्वामित्व के लिए किए जाने वाले जोड़-तोड़ में शनै-शनै स्तरबद्ध तरीकों से वृद्धों को अपदस्थ करने की योजना के पीछे सामाजिक तौर पर पूर्णतया सांस्कारिक छवि को बनाये रखने और अपनी वैयक्तिक सामाजिक प्रतिष्ठा की सुरक्षा की भावना बलवती रहती है। रुपा कहती है – “ गाँव देखेगा तो कहेगा कि बुढ़िया भरपेट खाने को नहीं पाती तभी तो इस तरह मुँह बाए फिरती है। डायन न मरे न माँचा छोड़े। नाम बेचने पर लगी है। नाक कटवा कर दम लेगी।”

जिद है स्वादु पकवान खाने की।

लेकिन फिर जब एक बार दुत्कार दिए जाने पर -

“अब जब तक कोई बुलाने नहीं आएगा, न जाऊँगी”।

पर उनकी भोजन की इच्छा उन्हें झूठी पत्तलों तक ले जाती है।

यहाँ कुछ प्रश्न कहानी में/से उठते हैं-

“बूढी काकी को किसी ने न पूछा”- क्यों?

“यदि काकी ने मेहमानों से पहले खा लिया तो क्या बिगड़ जाएगा?”

“क्या मेरा पेट काटने से धन जुड़ जाएगा?”

“एक ब्राह्मणी दूसरों की झूठी पत्तल टटोले.... इस अधर्म का भागी कौन है?”

इनका उत्तर भी कहानी ही देती है-

“जिसकी सम्पत्ति से मुझे दो सौ रुपया आय हो रही है.... जिसकी बदौलत हजारों रुपये खाए, उसे इस उत्सव में भी भरपेट भोजन न दे सकी। केवल इसी कारण तो, वह वृद्धा असहाय है।”

वृद्धा विधवा, आश्रित और असहाय है। स्वेच्छा से स्वामित्व का अधिकार अगली पीढ़ी को सम्मान और सुरक्षा सुनिश्चित करने के उद्देश्य से सौंपा जाता है लेकिन सामान्यतः स्थितियों में वह निर्णय ही उपेक्षा और अपमान का सबसे बड़ा औजार बनता है।

प्रेमचंद की एक और कहानी है ‘बेटोंवाली विधवा’ इस कहानी में भी मां विधवा है। सम्पत्ति के हस्तांतरण में सत्ता, रूतबा, मान-सम्मान सब क्रमशः चला जाता है। इसे ऐसे समझा जा सकता है-

- अतीत

“बुढ़िया में वह अधिकार प्रेम न था, जो वृद्धजनों को कटु और कलहशील बना दिया करता है; किन्तु उसकी इच्छा के बिना कोई बालक मिठाई तक न मँगा सकता था।”

- वर्तमान

“आज चालीस वर्षों से घर के प्रत्येक मामले में फूलमती की बात सर्वमान्य थी। उसने सौ कहा तो सौ खर्च किये गए, एक कहा तो एक। यहां तक कि प. अयोध्यानाथ भी उसकी इच्छा के विरुद्ध कुछ न करते थे; पर आज उसकी आँखों के सामने प्रत्यक्ष रूप से उसके हुक्म की उपेक्षा की जा रही है !”

‘उसकी राय कोई चीज़ नहीं है?’

‘मानो वह कुछ है ही नहीं।’

आज संचार के सभी युग्म, मल्टीमीडिया द्वारा प्रसारित कार्यक्रम , विज्ञापन, सूचनात्मक अंश सभी भ्रामक छवियों द्वारा यह स्थापित करने का प्रयास करते हैं कि बड़ों का बड़प्पन अपने पूरे घनत्व में स्थापित है। छोटों की दुनिया को वो अदल-बदल चाहे न सकते हो लेकिन उनका दखल पूरी तरह सुरक्षित है। लेकिन यथार्थ स्थिति ठीक इसके विपरीत है, तब ये भ्रामक छवियाँ कालांतर में बुजुर्गों के मन में एक ओर जिस असुरक्षा और निरर्थक बोध को जन्म देती हैं वहीं नई पीढ़ी के स्वतंत्रता स्वप्न को बल देते हुए उनके बलात जोड़-तोड़ के औचित्य को सही सिद्ध करने का तर्क भी गढ़ती हैं। प्रेमचंद की कहानी में उस समय की ऐसी कई छवियाँ अंकित हैं। सम्पत्ति के अधिकार की जोड़-तोड़ में मां का ‘स्त्री-धन’ समझे जाने वाले गहने भी मां की ममता को विवश कर बेटे हथिया लेते हैं और फिर उसका औचित्य गढ़ने का प्रयास करते हैं – “ मां के गहनों पर हाथ साफ करके चारों भाई उसकी दिलजोई करने लगे थे। अपनी स्त्रियों को भी समझाते थे कि उसका दिल न दुखायें। अगर थोड़े- से शिष्टाचार से उसकी आत्मा को शांति मिलती है, तो इसमें क्या हानि है। चारों करते अपने मन की, पर माता से सलाह ले लेते या ऐसा जाल फैलाते कि वह सरला उनकी बातों में आ जाती और हरेक काम में सहमत हो जाती।”। ये जाल जब तकनीकी युगों का नहीं था, तब भी बड़े- बुजुर्ग भ्रामक छवि निर्माण के चलते ठगे जाते थे। इन भ्रामक छवियों से मोहभंग लगभग तय है। बेटोंवाली मां को भी होता है , जब उसकी बेटा ‘कुमुद’ की शादी पैसे के कारण दूसरी जगह तय कर दी जाती है। उसके विरोध करने बड़ा बेटा कहता है कि- “आपको कुछ भी खर्च करने का अधिकार नहीं है।.... बाप के मरने के बाद जायदाद बेटों की हो जाती है। माँ का हक केवल रोटी-कपड़े का है।” यह स्थिति भावनात्मक रूप से प्रतिरोध की क्षमता को सघन रूप में क्षतिग्रस्त करती है। बेटोंवाली विधवा पारिवारिक मोहभंग की स्थिति में भी सामाजिक प्रतिष्ठा के निर्वाह हेतु यह तर्क गढ़ती है कि- “ दुनिया यही तो कहेगी कि चार जवान बेटों के होते बुढ़िया अलग पड़ी हुई मजूरी करके पेट पाल रही है ! अब अपना और घर का परदा ढका रखने में ही कुशल है।”

पर इस पर्दे ढकने के क्रम में निरर्थकता बोध और नियति का स्वीकार इस हद तक बढ़ा कि-

“ उसके जीवन में अब कोई आशा, कोई दिलचस्पी, कोई चिंता न थी।”

“ फूलमती बेकहे काम करती थी ; पर खाती थी विष के कौर की तरह।”

उसकी नियति जब उसे ले डूबी- तो जिस सामाजिक प्रतिष्ठा के लिए उसने बेटों के अन्याय का प्रतिरोध न किया था, उसी समाज ने उसके 'भाग्य की ठोकर' मानकर उसकी नियति को स्वीकार कर लिया।

'बूढ़ी काकी' और 'फूलमती' दोनों विधवा हैं। दोनों असहाय हैं। दोनों संपत्ति स्वामित्व के हस्तांतरण के उपरांत पारिवारिक अनाचार के चलते दारुण अवस्था को प्राप्त होने के लिए अभिशप्त हैं। क्या यह समाज की अराजक व शोषक व्यवस्था नहीं, जिसमें विधवा वृद्ध जीवन असहाय है ? और विडम्बना यह कि समाज उसे नियति मानकर स्वीकार भी करता है।

दादी अम्मा- दादी अम्मा भारतीय जीवन में सास- बहू के लोकगीतों जैसी कहानी है, जिसमें संयुक्त परिवार में रहते अम्मा- दादी- दादा और उनके पोते- परपोते-देवते यानि तीन पीढ़ियां वर्तमान हैं। ऐसा परिवार जिसमें "फूलो-फलो" का आशीर्वाद फलता है। बुजुर्गों की आशीष का मान है। पोते-पोती वाली मेहराँ को भी सास-ससुर का मान-सम्मान है। उनके पति ने भी कभी 'अम्मा' का कहा 'जाने-अनजाने भी नहीं टाला है।' लेकिन साथ ही मेहराँ को कुछ शिकायतें भी हैं-

- "अम्मा तो सचमुच उठते-बैठते बोलती है, झगड़ती है, झुकी कमर पर हाथ रखकर वह चारपाई से उठकर बाहर आती है तो जो सामने हो उस पर बरसने लगती है।"

शिकायत अम्मा को भी है-

- "अब तो बेटों को कुछ कहने के लिए तुमसे पूछना होगा। यह बेटे तुम्हारे हैं, घर-बार तुम्हारा है, हुक्म हासिल तुम्हारा है।"
- "घर के पिछवाड़े जिसे वह अपनी चलती उमर में कोठरी कहा करती थी उसी में आज वह अपने पति के साथ रहती है।"
- "जिसके घर में भगवान के दिए बेटे-पोते हो, वह इस तरह बिना दवा-दारू पड़े रहते हैं।"

कुल मिलाकर अतीत की स्मृतियों और वर्तमान के उपेक्षा भाव में जीवनयापन। बुढ़ापे का जर्जर शरीर, बीमारियों का घर फिर भी सपने देखता मन और उसका अवसाद - "बुढ़ापे की उम्र भी कैसी होती है। जीते-जी मन से संग टूट जाता है। कोई पूछता नहीं, जानता नहीं।"

फिर भी यह ऐसा संयुक्त परिवार जिसमें "फूलो-फलो" का आशीर्वाद पीढ़ी-दर-पीढ़ी फलता रहता है और इसे 'बड़ों का प्रताप' समझ कर स्वीकार किया जाता है। यही कारण था कि अम्मा तो हल्के से हंस कर अपना आशीर्वाद छोटी पतोहू को देकर चली जाती हैं पर बहू के चेहरे पर "अम्मा की याद नहीं अम्मा का दुख था।" वह अपने पति और ससुर दोनों को सांत्वना देती है, परिवार ऐसे सम्भाल लेती है जैसे वे ही 'अम्मा' हो अब से। ये बात बापू समझ जाते हैं - "यह सब अम्मा का ही प्रताप है। वह मरी नहीं। वह तो अपनी देह पर के कपड़े बदल गयी है, अब वह बहू में जीएगी, फिर बहू की बहू में...."।

अब प्रश्न यह उठता है कि क्या संयुक्त परिवारों का विघटन इस सास-बहू के पुरातन रिश्ते और फूलने-फलने की परंपरा को हाशिये पर ले आया है ? नई जीवन-शैली ने वृद्धों को आश्रम और बच्चों को क्रच पहुँचा दिया है , जो सारे परिवार का केंद्र हुआ करते थे। इसकी समीक्षा अभी शेष है।

अपना रास्ता लो बाबा! 'बूढ़े देहाती की जिद' की कहानी है। बूढ़ा देहाती शहरी 'देवनाथ' के पिता के अपने बड़े भाई है। यहां बाबा गाँव के हैं और बेटा शहर का। शहर गांव से विशिष्ट नहीं केवल भिन्न है, ये बात देवनाथ और उसके परिवार और सबको समझनी चाहिए। कहानी व्यंग्य करती है उस मानसिकता पर जो बीमारी का इलाज कराने अपने भतीजे के पास आये बुढ़े को अपने जी का जंजाल मानती है। वह इलाज की मुसीबत गले में पड़ती देख उनकी बीमारी के विषय में उन्हें अवगत कराये बिना वापिस गांव भेज देता है और कैंसर जैसी बीमारी को छुपाने की ग्लानि से "सारी जिंदगी और सारी दुनिया के बरक्स एक बेमतलब का बुढ़ा" मानकर पल्ला झाड़ लेता है। महानगरीय घाघपन गांव की सादगी व सरलता को आसानी से हार देता है, इसलिए शहरी जीत जाता है और ग्रामीण छला जाता है।

उपरोक्त कहानियों से कुछ तथ्य उभरते हैं-

- सभी पात्र उम्र के एक पड़ाव पर अकेले, उपेक्षित जीवन जीने को विवश हैं।
- सभी शेष जीवन में कर्मठ और परिवार के मुखिया रहे हैं, पर अब दयनीय अवस्था में हैं।
- सभी प्रकृति से सरल, मन से भावुक और सदाशयता से भरे हुए हैं।
- जीवन की तत्कालीन स्थितियों से कोई भी संतुष्ट नहीं है। दादी अम्मा और फूलमती की मृत्यु हो जाती है। बूढ़ी काकी मरणासन्न है और बाबा मृत्यु के अत्यंत समीप।

बूढ़ी काकी को भोजन कराकर रूपा पाप का प्रायश्चित्त करती है , जिससे काकी तिरस्कार भूल जाती है। दादी अम्मा भी मरते समय सब मलाल मन से साफ कर पोतहु को आशीर्वाद देती चली जाती है। सेठ अमीरचंद की विधवा फूलमती का नदी में डूबना नियति या हादसा भर या भाग्य की ठोकर मानकर स्वीकार कर लिया गया। अपना रास्ता लो बाबा! कहानी बुजुर्गों के प्रति लालच , घुन्नेपन और दोगले व्यवहार को मूर्त कर वर्तमान को विकट और भविष्य को संशयग्रस्त करती है। हम सोचने लगते हैं कि अगर उस रात काकी को खाना न मिलता तो क्या? बाबा को कैंसर का इलाज मिला क्या ? अगर दादी अम्मा उसी खाली मन से विदा हो जाती जिस खाली मन से बेटों वाली विधवा चली गई? तो? तो क्या?

"सारी जिंदगी और सारी दुनिया और सारा जमाना हमारे सामने पड़ा है और हम एक बेमतलब के बुढ़े को लेकर मुँह लटकाएं बैठे हैं।"

जीवन-जगत की निर्मम स्थिति यही है जो 'बेमतलब के बुढ़े को लेकर मुँह लटकाएं बैठने ' को मूर्खतापूर्ण कृत्य मानकर उसकी भरसक भर्त्सना कर आत्मग्लानि से मुक्ति पाती है।

संयुक्त परिवार विघटन महानगरीय व्यवस्था का परिणाम था। इस विघटन के लिए पुरानी पीढ़ी , नई पीढ़ी को दोषी मानकर उसे कठघरे में खड़ा करती रही है। 'यह रहगुजर ना होती' उसी परिवार के विघटन की कहानी है, जिसका एक हिस्सा पहली पीढ़ी से जुड़ा है , दूसरा नई पीढ़ी से। यही कारण है कि कहीं संयुक्त परिवार विघटन- जरूरत था , कहीं नियति , कहीं व्यवस्था। कहानी सभी पहलुओं पर विचार करती है। यहां नई पीढ़ी अपने से पहले की पीढ़ी की भी इस विघटन में हिस्सेदारी तय करती है , उसी मलाल है कि बाबा की हर बात में केवल अपनी जिद न होती तो आज 'ये रहगुजर न होती'। स्थिति साफ है कि तत्कालीन परिस्थितियों के लिए केवल एक पीढ़ी के सिर पर सारा ठीकरा नहीं फोड़ा जा सकता। 'बाबा' का चरित्र इस कहानी में पितृसत्ता के मुखिया का है-

- उनकी मां यानी 'दादी' उनसे इतना डरती थी कि "बाबा डांटते तो चुप हो जाती। फिर चुप रहती और आंखें भींच लेती। घंटों वैसे ही पड़ी रहती।"

- उनकी पत्नी को उन्होंने अपने ही बच्चों से दूर रखा , मिलने नहीं दिया- उनसे बदला लेने के लिए आपने उनकी मां को- अपनी औरत को- तीन साल इस कमरे में कैद रखा, ताकि वह किसी से मिल न सके।"

- संयुक्त परिवार से बाबा का मोहभंग जब हुआ तब तक उम्र बीत चुकी थी। बच्चे-कुचे जीवनयापन के साधन भी चूक रहे थे।

कहानी के प्रमुख पात्र बाबा हैं , जो बूढ़े हैं , अकेले हैं , नाराज हैं सबसे- इतने नाराज कि अपनी पोती के छोटे से बच्चे तक के लिए वह शुष्क निरपेक्ष और कठोर बने रहते हैं। अगर उनका व्यवहार ऐसा न होता तो 'यह रहगुजर न होती'- संभवतः सब एक साथ होते। कहानी कहती है कि जैसे हम हैं , उसका असर असल जिंदगी में हम पर ही नहीं , हमसे जुड़े प्रत्येक व्यक्ति पर पड़ता है- बाबा का भी पड़ा। परिणामतः वह अक्खड़ बने रहें इसलिए अकेले होते गए। अकेले होते गए इसलिए अपेक्षाकृत अधिक चिड़चिड़े और शुष्क भी। उनकी स्थिति की जिम्मेदारी केवल उनके बेटे या पोतों पर तय नहीं की जा सकती।

बाबा अकेलेपन के आदी हो चले हैं। अतीत में संयुक्त परिवार के लिए उन्होंने समझौते न किए हो , ऐसा कदापि नहीं है, लेकिन उत्तरोत्तर जीवन में सब लोग जब केवल अपने अपने हित को सर्वोपरि रख जाने लगे तो 'बाबा' भी अकेले और शुष्क होते चले गये।

शिव शंकर मिश्र की कहानी 'बाबा की उघल्ली' संयुक्त परिवार के सबसे बड़े बुजुर्ग की कहानी है। " बाबा के इकलौते पुत्र हीरालाल जी। हीरालाल जी के सात पुत्र और तीन पुत्रियां। हीरालाल जी के हर पुत्र के चार-चार , पाँच-पाँच पुत्र। पुत्रियाँ अलग। इस तरह इस विशाल संयुक्त परिवार के मूल पुरुष बाबा ही है।" बड़ी उम्र में अतीत आंखों के आगे और दिमाग के चारों ओर चकराता रहता है। बाबा की भी यही समस्या है , " अँधेरा होते ही भूत दिखने लगते हैं बाबा को। उनके सारे दोस्त और दुश्मन मर गए हैं। अँधेरे में उनकी छवियाँ तैरती हैं। "

मानव मनोविज्ञान कहता है कि व्यक्ति जितना जीता है उतना ही मौत से डरने लगता है , बाबा भी तीन चीजों से डरने लगे हैं- “ अलगौझी से, भूतों से और मौत से।” यह गांव-घर के बातावरण में मानवीय भावनाओं से ओत-प्रोत होने की कहानी है। बुजुर्ग जिन्हें लम्बी उम्र मिलती है , उनके सामने यदि कोई छोटा चला जाए तो माना जाता है कि बुजुर्ग की लड़कियों में वो चला गया , अंततः उसी अपराध-बोध की कहानी है यह , जिसमें बाबा अपने घर की बहू के मर जाने पर पछता रहे हैं- “ अब हम जी कर का करेंगे ? का करेंगे जी कर ? नचकउना नचकउना नचकउना की गिरस्ती बिगड़ गई है... हाँ...।”

बुजुर्ग हठ और मनोविज्ञान की कहानी है मनमोहन भाटिया की कहानी ‘ बड़ी दादी’। कहानी में एक ओर है- बुजुर्ग हठ और दूसरी ओर है बड़प्पन- “ बुजुर्ग अपनी हठ नहीं छोड़ते , कि बच्चों से नीचे हो जाएँगे। अपने बच्चों से तालमेल ही बड़प्पन की निशानी है।” ये रहगुजर न होती के समान बुजुर्गों के दूसरे जीवन पहलू यानी बाल हठ के समान बुजुर्ग हठ कहानी का कथ्य है, जिसका सामना केवल सूझ-बूझ से ही किया जा सकता है। बुजुर्ग हठ का सामना करने के लिए धैर्य , सहनशीलता और सकारात्मक सोच चाहिए। बुजुर्ग की खीझ , शिकायत, क्रोध और बीमारी सबको सहने-समझने के लिए उदार हृदय , विस्तृत दृष्टिकोण और सहिष्णुता चाहिए। भारतीय परिवार का सकारात्मक दृष्टिकोण ही दो पीढ़ियों की खाई को पाट संतुलन बनाये रखता है- “ मिलजुलकर जिंदगी के उतार-चढ़ाव सहना और जीना ही गृहस्थी की सफल कुँजी है।” लेकिन सामंजस्य का प्रयास करती वर्तमान पीढ़ी केवल एक प्रश्न करती है कि- “आखिर बुजुर्गों की बेकार हठ कब समाप्त होगी?”

“पता नहीं उनको और क्या देखना बाकी रह गया है। ” ‘मृत्यु उत्सव’ कहानी उन्हीं ‘काकाजी’ की है, जिन्होंने बुजुर्ग होने के अपने सभी उत्तरदायित्वों को निभाया। वह समस्त घर/ क्षेत्र/ गांव को सम्पन्न बनाये रखने के लिए हर सम्भव प्रयास करते हैं। उन्हीं काका के बीमार पड़ने पर अप्रवासी बेटे के आने से पूर्व ही बट्टवारे को लेकर जिरह शुरू हो जाती है। सभी चाहते हैं कि “बट्टवारा काका की जिंदगी में ही हो जाना चाहिए। ” यह सब प्रक्रिया उस मानुस के लिए कितनी पेचीदा और मानसिक रूप से तकलीफ देय रहती होगी जिसके लिए सभी पारिवारिक सदस्य समान हैं, उसी जटिलता को कहानी सद्भाव के साथ व्यक्त करती है।

कुल मिलाकर भारतीय परिवारों में रची-बसी वृद्धों के प्रति अपेक्षा-उपेक्षा का भाव हिंदी कहानी का विषय रहा है। हम पूरी एक सदी की परिवारों की मानसिकता का जायजा इस शोध-आलेख के द्वारा कर सकते हैं।

संदर्भ ग्रन्थ:

- बूढी काकी, प्रेमचंद, बड़े-बुजुर्ग (कहानियाँ रिश्तों की), सं. प्रियदर्शन, राजकमल प्रकाशन, 2014
- दादी-अम्मा, कृष्णा सोबती, बड़े-बुजुर्ग (कहानियाँ रिश्तों की), सं. प्रियदर्शन, राजकमल प्रकाशन, 2014
- बेटोंवाली विधवा, प्रेमचंद, प्रेमचंद रचना- संचयन, सं. निर्मल वर्मा, कमल किशोर गोयनका, साहित्य अकादमी, 1994
- अपना रास्ता लो बाबा !, काशीनाथ सिंह, बड़े-बुजुर्ग (कहानियाँ रिश्तों की), सं. प्रियदर्शन, राजकमल प्रकाशन, 2014
- ये रहगुजर न होती, अलका सरावगी, बड़े-बुजुर्ग (कहानियाँ रिश्तों की), सं. प्रियदर्शन, राजकमल प्रकाशन, 2014
- बाबा की उघन्नी, शिवशंकर मिश्र, दादा-दादी, नाना-नानी (कहानियाँ रिश्तों की), सं. डॉ.राजकुमार, राजकमल प्रकाशन, 2014
- बड़ी दादी, मनमोहन भाटिया, दादा-दादी, नाना-नानी (कहानियाँ रिश्तों की), सं. डॉ.राजकुमार, राजकमल प्रकाशन, 2014
- मृत्यु उत्सव, राजीव कुमार, बड़े-बुजुर्ग (कहानियाँ रिश्तों की), सं. प्रियदर्शन, राजकमल प्रकाशन, 2014